

इंदिरा चौधरी

Indira Chowdhury
May 9, 2011

भारत में विज्ञान का इतिहास अक्सर राष्ट्रीय गौरव गाथा के रूप में ही लिखा जाता रहा है; कभी इसका रूप वीरगाथा के रूप में होता है तो कभी इसे लिखा ही नहीं जाता. जैसे सन् 1947 में भारत की आज़ादी के क्षण में प्रकीर्ण ऊर्जा के साथ और उसीके अंदर कार्यरत वैज्ञानिकों का इतिहास लिखा ही नहीं गया. दूसरी तरफ़ पिछले दो दशकों में इसकी संकल्पना में भी परिवर्तन आया है और उत्तर साम्राज्यवादी भारत के अंदर विज्ञान के मूल में छाए विवादों को विश्लेषित किया जाने लगा है. इससे यह पता चलता है कि यद्यपि आधुनिक विज्ञान भारत की अपनी छवि के मूल में ही निहित है, लेकिन जिस केंद्रबिंदु द्वारा इसे हमेशा परिभाषित किया जाता है, वह पश्चिम में स्थित है. इस प्रकार 'राष्ट्रीय', 'साम्राज्यवादी' और 'उत्तर साम्राज्यवादी' जैसे शब्दों का प्रयोग आज भी विज्ञान में गंभीर विद्वत्ता के संबंध में उसी प्रकार हो रहा है. यह तर्क दिया जा सकता है कि इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग के कारण ही हम अंतर्राष्ट्रीयवाद की जटिल और विशिष्ट प्रकृति को और भारतीय विज्ञान के साथ उसके संबंधों को खोजने में असमर्थ रहते हैं. कुछ ऐतिहासिक दृष्टांत हमें विज्ञान और अंतर्राष्ट्रीयवाद के बीच के संबंधों की पुनःसंकल्पना करने की आवश्यकता पर विचार करने के लिए विवश करते हैं.

एक वैज्ञानिक का यूटोपिया

17 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की औपचारिक स्थापना से कुछ दिन पहले और हीरेशिमा के महाविनाश के लगभग दो माह बाद नवगठित भारतीय वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान परिषद के निदेशक सर शांतिस्वरूप भटनागर ने आकाशवाणी, दिल्ली पर "मेरा यूटोपिया" विषय पर एक वार्ता प्रसारित की थी. अपने समय के अनेक उदारवादियों की तरह भटनागर ने भी विज्ञान के एक ऐसे लाभकारी मॉडल को सामने रखा था, जिससे वैज्ञानिक अनुसंधान से सीधे ही "गरीबी और बीमारी का उन्मूलन" किया जा सकता था. राजनीति और धर्म द्वारा विकृत विश्व के ठीक विपरीत उन्होंने विज्ञान से सामाजिक लाभ उठाने की बात सामने रखी थी. चूँकि आदर्श सामाजिक व्यवस्था लागू करना लगभग असंभव है, इसलिए भटनागर ने ऐसे उपायों को सामने रखा जिनसे आदर्श को यथार्थ में बदला जा सकता था. वस्तुतः भटनागर का यूटोपिया समकालीन राजनीति की उनकी अपनी समझ-बूझ से ही निर्मित हुआ था और विश्व में फैली अव्यवस्था को विज्ञान के पुनर्गठन से ही रोका जा सकता था. उनके अनुसार विज्ञान में इतनी क्षमता है कि उसकी सहायता से मानवनिर्मित सीमाओं को लाँघ कर विश्व को समन्वित और एकीकृत किया जा सकता है.

वैज्ञानिक के यूटोपिया में भटनागर ने "एक विश्व" पर ज़ोर दिया था. एक ऐसा विश्व जो सत्ता और गोपनीयता के आधार पर विभाजित नहीं था. उनका यह संदेश खास तौर पर शीत युद्ध के संदर्भ में महत्वपूर्ण था. उनका कहना था कि परमाणु शक्ति के रहस्य अमरीका, कनाडा और इंग्लैंड के ही विशेषाधिकार नहीं रहने चाहिए. भटनागर के वक्तव्य को खास ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए. इसे भविष्यवादी दृष्टिकोण से देखना और यह सोचना गलत होगा कि इससे भारत की विशिष्ट परमाणु क्लब में शामिल होने की इच्छा प्रकट होती है. वस्तुतः सन् 1945 में इसकी संभावना भी नहीं हो

सकती थी. भटनागर ने भूराजनीतिक सीमाओं के आरपार वैज्ञानिकों में आपस में हाथ मिलाने का आह्वान किया था और खुलकर वैज्ञानिक चर्चा करने की अपील की थी. भटनागर के लिए वैज्ञानिकों की दुनिया की तुलना एक ऐसी प्रयोगशाला से की जा सकती है, जिसमें सभी के लिए प्रवेश द्वार खुला है. स्थान और समय की दीवारों को गिराना ही राजनीतिक कर्तव्य के रूप में वैज्ञानिकों का दायित्व है.

जब विद्वानों ने महाविज्ञान की एक महत्वाकांक्षा के रूप में या अमरीका की विदेश नीति से युद्धोत्तर घटना के रूप में उभरते अंतर्राष्ट्रीयवाद को देखा तो एक बात तो साफ़ हो गई कि हाल ही में भारत के परमाणु शक्ति प्रतिष्ठान के लिए जिस एक बात को महत्वपूर्ण समझा रहा है, वह है वैज्ञानिकों के अंतर्राष्ट्रीय समुदायों के बीच नेटवर्किंग की स्थापना करना. इस नेटवर्क के कारण भी भारत में वैज्ञानिक संस्थाओं के भीतर मूल अनुसंधान को विकसित करने में मदद मिली है. परंतु एक प्रयास के रूप में विज्ञान को हमेशा ही सार्वजनीन माना गया है, जिससे विश्व भर के लोगों का सरोकार जुड़ा है, इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि “भारतीयता” से ऊपर उठकर सोचा जाए, जिससे कि राष्ट्रीय, भौगोलिक और जातीय सीमाओं के आरपार संवाद हो सके.

यह आकांक्षा ही वैज्ञानिक उद्यम की अपनी प्रकृति के बारे में अनेक रोचक सवाल उठाती है. यदि यह सत्य “कोई देश नहीं” जैसे वैज्ञानिक यूटोपिया के शाब्दिक नाम से ही ध्वनित होता है, तो यह कैसे संभव है कि इस यूटोपिया से भारतीय, अंग्रेज़ या अमरीकी वैज्ञानिक जुड़ कर भी अपनी राष्ट्रीय पहचान बनाए रख सके ? ये हमारे दो भिन्न चित्र मिलकर एक कैसे हो गए? क्या इस प्रकार के विज्ञान को प्रभावित करने वाले समन्वयवादी प्रयासों की उद्भावना एक उद्यम के रूप में भारत में ही हुई ? भारत की स्वाधीनता की पूर्वसंध्या पर ऐसे अनेक सवाल अलग-अलग रूपों में उभर रहे थे. भौतिक विज्ञानी होमी भाभा भी भटनागर के विज्ञान की सार्वजनीनता के आदर्श से सहमत थे और उन्होंने वैज्ञानिक की अवधारणा को संकीर्ण क्षेत्रीयता की सीमाओं से ऊपर उठकर प्रचारित करने का प्रयास किया.

विज्ञान बिना सीमाओं के

सन् 1947 में शिक्षा मंत्री मौलाना आज़ाद को लिखते हुए होमी भाभा ने विशद रूप में स्पष्ट किया था कि आखिर भारत के लिए विज्ञान और कलाओं के संदर्भ में नागरिकता की व्यापक परिभाषा अपनाया क्यों महत्वपूर्ण है. संकीर्ण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के ठीक विपरीत भाभा ने उदार राष्ट्रवाद का समर्थन किया था, जिसमें अनेकता और व्यक्तिवाद दोनों ही के प्रति सम्मान का भाव बना रहे. इस दृष्टि से वैज्ञानिक संस्था की पहचान उसके खुलेपन से ही हो सकती है.

स्वाधीनता के आरंभिक वर्षों में भारतीय विज्ञान के अंतर्राष्ट्रीय आयाम न केवल उसकी आकांक्षा में निहित थे, बल्कि उसके अस्तित्व में भी निहित थे. सन् 1945 में भाभा ने टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) की स्थापना करते हुए विज्ञान की व्याप्ति को पुनर्भाषित किया. टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) संस्था निर्माण की प्रक्रिया में एक अनूठा प्रयोग था, जिसके निर्माण में विश्वविद्यालयीन विज्ञान के विभाग के निर्माण के लिए अपनाए गए साम्राज्यवादी ढाँचे को कतई नहीं अपनाया गया था. इस प्रयोग ने अंतर्राष्ट्रीयवाद और विज्ञान के एक रोचक संबंध को उजागर किया. टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) में राष्ट्र निर्माण और वैज्ञानिक अंतर्राष्ट्रीयवाद की शक्तियों और बाधाओं के बीच एक अद्भुत गतिशीलता का उपयोग किया गया. इन्हें मिलाकर भाभा की संस्थागत व्याप्ति को पुनर्निरूपित करके राष्ट्रीय सीमाओं से मुक्त करके निर्बाध स्वरूप दिया गया. इस संस्था की संकल्पना के आरंभिक समय में ही भाभा ने परिषद को इस बात के लिए मना लिया कि इस संस्था में उन विख्यात वैज्ञानिकों

को वेतन पर रखा जाएगा जो युवा वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित करेंगे और उनमें विज्ञान का आस्वाद पैदा करेंगे.

भाभा द्वारा आमंत्रित अनेक अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक तो ऐसे थे, जो अपने देश में ही राजनैतिक उथल-पुथल के शिकार हो चुके थे. इस प्रकार सन् 1948 में जब चीन में सिविल युद्ध तेज़ हो गया तो भाभा और गणितज्ञ डी.डी. कोसाम्बी ने चीनी गणितज्ञ एस.एस. चर्न को अपने चीनी सहयोगियों के साथ बंबई आने और अपना गणितीय कार्य जारी रखने के लिए निमंत्रित किया. यद्यपि चर्न ने पहले ही प्रिंस्टन के उच्च अध्ययन संस्थान के पद को स्वीकार कर लिया था, लेकिन निमंत्रण की भावना का आदर करते हुए वे आ गए.

दूसरे ऐसे आमंत्रित प्राध्यापक थे, ब्रह्मांडीय किरण के भौतिक विज्ञानी बर्नार्ड पीटर्स (1910-1992). नाज़ी जर्मनी से पलायन करके पीटर्स ने अपना वैज्ञानिक जीवन कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में ऑपनहाइमर छात्र के रूप में शुरू किया था और बाद में रोचेस्टर विश्वविद्यालय में आ गए थे. सन् 1949 में हाउस अमरीका-विरोधी कार्यकलाप समिति ने पीटर्स को ऑपनहाइमर के साक्ष्य के आधार पर “एक खतरनाक और बेहद रैड” के रूप में घोषित कर दिया. यद्यपि ऑपनहाइमर ने बाद में इस नुकसान को कम करने की कोशिश ज़रूर की, लेकिन उस बयान के कारण पीटर्स को बहुत-कुछ झेलना पड़ा. सन् 1951 में पीटर्स टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) में प्रयोगात्मक भौतिकी के प्रोफ़ेसर के रूप में आ गए. वहाँ वे आठ साल रहे और उन्होंने बैलून उड़ान के कार्यक्रम का निर्देशन किया, जिसके कारण उन्हें युवा भारतीय वैज्ञानिकों के अपने दल के साथ प्राथमिक कण भौतिकी में कई सफलताएँ मिलीं. इन वैज्ञानिकों में यशपाल और देवेंद्र लाल भी थे. हर साल भाभा इंस्टीट्यूट अनेक अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिकों और गणितज्ञों का घर हुआ करता था. भाभा इसे वैज्ञानिकों के प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य मानते थे. जैसा कि उन्होंने सन् 1954 में कहा था कि बुनियादी अनुसंधान उसी वातावरण में फलता-फूलता है, जहाँ विचारों का मुक्त आदान-प्रदान हो: बुनियादी अनुसंधान की संस्था में सभी विख्यात वैज्ञानिकों का स्वागत होना चाहिए, *भले ही वे किसी भी देश के हों.*

भाभा ने अपनी संस्था की ओर से जो अंतर्राष्ट्रीय संबंध बनाए, उसकी गूँज उनकी अपनी वैज्ञानिक गतिविधियों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उसका प्रभाव सांस्कृतिक परिवेश पर भी पड़ा और इसीसे टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) की निर्मिति हुई. इन दोनों ने मिलकर उनकी संस्था को मजबूती और शक्ति प्रदान की और यदि हम इसे समझने में विफल रहते हैं तो हम इन घटनाओं को मात्र साम्राज्यवादी चेतना का एक ऐसा अवशेष ही मानते रहेंगे, जिसमें आत्मविश्वास की कमी तो है ही और जो निरंतर पश्चिम से वैज्ञानिक अनुमोदन की बाट जोहते रहते हैं.

टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) में भाभा ने अपनी प्रयोगशालाओं के दरवाजे खुले रखे ताकि भारतीय वैज्ञानिकों और विज्ञानकर्मियों की पीढ़ियाँ अमरीकी, योरोपीय, ब्रिटिश और जापानी वैज्ञानिकों और गणितज्ञों से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें और इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यक तत्व जुटाने के लिए भाभा ने सफलतापूर्वक अनेक समझौते किए ये नेटवर्क न केवल अनेक देशों, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और संगोष्ठियों से संबंधित पीएचडी के छात्रों की सीरीज़ सहित सहयोगी परियोजनाओं के माध्यम से अधिक उन्नत स्तर पर परिचालित होते थे, बल्कि इनमें ऐसे वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों के कुछ निचले दर्जे के कर्मचारियों और वैज्ञानिक व प्रयोगशाला के सहायकों का तकनीकी प्रशिक्षण भी शामिल होता था. इस

प्रकार यह संस्थान एक ऐसा इलाका बन गया, जो वास्तव में भारत में स्थिर होते हुए “कोई देश” नहीं जैसे बिना राष्ट्रीय सीमा के इलाके में था. ऐसे इलाके के डैनिज़न के लिए कोई एक राजनैतिक पहचान ज़रूरी नहीं थी और वे अपने वैज्ञानिक काम करने के लिए स्वतंत्र थे. यह स्थिति परमाणु ऊर्जा प्रतिष्ठान , ट्रॉम्बे के मामले में नहीं थी, जिससे टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) का अधिकांश वित्तपोषण होता था. परमाणु ऊर्जा प्रतिष्ठान, ट्रॉम्बे में विज्ञान का उद्देश्य देश की सेवा करना था. टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च (TFIR) में जिस प्रकार का अंतर्राष्ट्रीयवाद पनप रहा था, उसका उपयोग राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में और उस राजनीति में भी होता रहा था, जिसका विकास इस प्रकार के संवाद के माध्यम से भी होता रहता था और राष्ट्रीय राजनीति से भी इसकी अक्सर टकराहट होती रहती थी. इस प्रकार जब ब्रिटिश भौतिक विज्ञानी पी.एम.एस ब्लैकेट नेहरू के सलाहकार बन गए तो भारत की रक्षात्मक रणनीति में यह सवाल जुड़ गया और अंतर्राष्ट्रीयवाद और राष्ट्रवाद के बीच के संबंधों पर इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ने लगा.

इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीयवाद से हमें आज और भविष्य के लिए कुछ पाठ भी सीखने होंगे, क्योंकि भारत अपने उन वैज्ञानिकों पर अपना दावा करने लगा है जो प्रवासी भारतीय हैं, नोबल पुरस्कार विजेता हैं, लेकिन वे भारत से बाहर रहते हैं और अपनी वैज्ञानिक गतिविधियों को भी वहीं अंजाम देते हैं. कदाचित् इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीयवाद पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है और परस्पर विनिमय और प्रशिक्षण के अर्थक्षम ढाँचे को निर्मित करने की भी आवश्यकता है जिससे कि ज्ञान की निर्मिति हो सके. परंतु इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीयवाद की रक्षा रणनीति में क्या भूमिका होगी, इस सवाल पर विचार करने की आवश्यकता है.

इंदिरा चौधरी सृष्टि स्कूल ऑफ़ आर्ट, डिज़ाइन ऐंड टेक्नोलॉजी, बेंगलूरु में आवासीय विदुषी हैं. वह वसंत में भारतीय उच्च विद्या केंद्र (कैसी) - नया भारत प्रतिष्ठान की विज़िटिंग स्कॉलर हैं

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>